अथ दशमसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषयान् व्याख्यास्यामः

अब जो धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि आचार और इन से विपरीत अनाचार कहाता है; उस को लिखते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥ १॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ २॥
सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥ ३॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ ४॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ ५॥
सर्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥ ६॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ ७॥ ८॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ ९॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ १०॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ ११॥
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ १२॥
केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ १३॥ मनु० अ० २॥

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि जिस का सेवन रागद्वेषरहित विद्वान् लोग नित्य करें; जिस को हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय है॥ १॥

क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं॥ २॥

जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूं वा हो जाऊँ तो वह कभी नहीं हो सकता क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत, यम नियमरूपी

धर्म आदि संकल्प ही से बनते हैं॥ ३॥

क्योंकि जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं वे सब कामना ही से चलते हैं। जो इच्छा न हो तो आंख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता॥ ४॥

इसलिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा जिस में न हों उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो! जब कोई मिथ्याभाषण, चोरी आदि की इच्छा करता है तभी उस के आत्मा में भय, शंका, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है इसलिये वह कर्म करने योग्य नहीं॥ ५॥

मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञाननेत्र करके श्रुति-प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे॥ ६॥

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है वह इस लोक में कीर्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है॥ ७॥

श्रुति वेद और स्मृति धर्मशास्त्र को कहते हैं। इन से सब कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये॥८॥

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों का अपमान करे उस को श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें। क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है वही **नास्तिक** कहाता है॥ ९॥

इसलिये वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है॥१०॥

परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषयसेवा में फंसा हुआ नहीं होता उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिये वेद ही परम प्रमाण है॥ ११॥

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का निषेकादि संस्कार करें। जो इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करने वाला है॥ १२॥

ब्राह्मण के सोलहवें, क्षत्रिय के बाईसवें और वैश्य के चौबीसवें वर्ष में केशान्त कर्म और मुण्डन हो जाना चाहिये अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रख के अन्य डाढ़ी मूँछ और शिर के बाल सदा मुंडवाते रहना चाहिये अर्थात् पुनः कभी न रखना और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है; चाहै जितने केश रक्खे और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूँछ रखने से भोजन पान अच्छे प्रकार नहीं होता और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है॥ १३॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥ १॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥२॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ ३॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ ४॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥५॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ ६॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ ७॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ ८॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ ९॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ १०॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ ११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ १२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ १३॥
अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ १४॥ मनु० अ० २॥

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियां चित्त का हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं उन को रोकने में प्रयत्न करे। जैसे घोड़ों को सारथि रोक कर शुद्ध मार्ग में चलाता है इस प्रकार इन को अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हटा के धर्ममार्ग में सदा चलाया करे॥ १॥

क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इन को जीत कर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है॥ २॥

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से बढ़ता जाता है वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिये मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिये॥ ३॥

जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको 'विप्रदुष्ट' कहते हैं। उस के करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं॥ ४॥

इसलिये पांच कर्म पांच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहार विहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे॥ ५॥

जितेन्द्रिय उस को कहते हैं जो स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुन के शोक;

अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्ट रूप देख के अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता है॥ ६॥

कभी विना पूछे वा अन्याय से पूछने वाले को कि जो कपट से पूछता हो उस को उत्तर न देवे। उन के सामने बुद्धिमान् जड़ के समान रहें। हां! जो निष्कपट और जिज्ञासु हों उन को विना पूछे भी उपदेश करे॥ ७॥

एक धन, दूसरे बन्धु कुटुम्ब कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म और पांचवीं श्रेष्ठ विद्या ये पांच मान्य के स्थान हैं। परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से पवित्र विद्या वाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं॥ ८॥

क्योंकि चाहै सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या विज्ञानरहित है वह बालक और जो विद्या विज्ञान का दाता है उस बालक को भी वृद्ध मानना चाहिये। क्योंकि सब शास्त्र आप्त विद्वान् अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को पिता कहते हैं॥ ९॥

अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से और बड़े कुटुम्ब के होने से वृद्ध नहीं होता। किन्तु ऋषि महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या विज्ञान में अधिक है; वही वृद्ध पुरुष कहाता है॥ १०॥

ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धनधान्य से और शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता है॥ ११॥

शिर के बाल श्वेत होने से बुढ्ढा नहीं होता किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं॥ १२॥

और जो विद्या नहीं पढ़ा है वह जैसा काष्ठ का हाथी; चमड़े का मृग होता है वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है॥ १३॥

इसलिये विद्या पढ़, विद्वान् धर्मात्मा होकर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे। और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं वे पुरुष धन्य हैं॥ १४॥

नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न, पान, स्थान सब शुद्ध रक्खे क्योंकि इन के शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। शौच उतना करना योग्य है कि जितने से मल दुर्गन्ध दूर हो जाये।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च॥ मनु०॥

जो सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है।

मा नो॑ वधीः पि॒तरं॒ मोत मा॒तर॑म् ।
आ॒चार्य्य उ॒पन॑यमानो ब्र॒ह्म॒चारिण॑मिच्छते ॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव॥
—तैत्तिरी०॥

माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि की सेवा करना देवपूजा कहाती है। और जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो वह-वह कर्म करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती,

चोर, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का सङ्ग न करे। आप्त जो सत्यवादी धर्मात्मा परोपकारप्रिय जन हैं उनका सदा संग करने ही का नाम श्रेष्ठाचार है।

(प्रश्न) आर्यावर्त्त देशवासियों का आर्यावर्त्त देश से भिन्न-भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है वा नहीं?

(उत्तर) यह बात मिथ्या है। क्योंकि जो बाहर भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषणादि आचरण करना है वह जहाँ कहीं करेगा आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा। और जो आर्य्यावर्त्त में रह कर भी दुष्टाचार करेगा वही धर्म और आचारभ्रष्ट कहावेगा। जो ऐसा ही होता तो—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैव व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत्॥ १ ॥
स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान् ॥२॥

ये श्लोक महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म में व्यास-शुक-संवाद में हैं।

अर्थात् एक समय व्यास जी अपने पुत्र शुक और शिष्य सहित पाताल अर्थात् जिस को इस समय 'अमेरिका' कहते हैं; उस में निवास करते थे। शुकाचार्य्य ने पिता से एक प्रश्न पूछा कि आत्मविद्या इतनी ही है वा अधिक ? व्यास जी ने जानकर उस बात का प्रत्युत्तर न दिया क्योंकि उस बात का उपदेश कर चुके थे। दूसरे की साक्षी के लिये अपने पुत्र शुक से कहा कि हे पुत्र! तू मिथिलापुरी में जाकर यही प्रश्न जनक राजा से कर। वह इस का यथायोग्य उत्तर देगा। पिता का वचन सुन कर शुकाचार्य्य पाताल से मिथिलापुरी की ओर चले। प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान उत्तर और वायव्य दिशा में जो देश बसते हैं उन का नाम हरिवर्ष था। अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को, उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्र वाले होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय 'यूरोप' है उन्हीं को संस्कृत में 'हरिवर्ष' कहते थे। उन देशों को देखते हुए और जिन को हूण 'यहूदी' भी कहते हैं उन देशों को देख कर चीन में आये। चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आये।

और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पाताल में अश्वतरी अर्थात् जिस को अग्नियान नौका कहते हैं; पर बैठ के पाताल में जाके महाराजा युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार जिस को 'कन्धार' कहते हैं वहीं की राजपुत्री से हुआ। माद्री पाण्डु की स्त्री 'ईरान' के राजा की कन्या थी। और अर्जुन का विवाह पाताल में जिस को 'अमेरिका' कहते हैं वहां के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देशदेशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर में न जाते होते तो ये सब बातें क्यों कर हो सकतीं ? मनुस्मृति में जो समुद्र में जाने वाली नौका पर कर लेना लिखा है वह भी आर्य्यावर्त्त से द्वीपान्तर में जाने के कारण है। और जब महाराजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था उस में सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमन्त्रण देने के लिये भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे, जो दोष मानते होते तो कभी न जाते। सो प्रथम आर्य्यावर्त्तदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य्य और भ्रमण के लिये सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल छूतछात और धर्मनष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है।

जो मनुष्य देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में जाने आने में शंका नहीं करते वे देशदेशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम, रीति भांति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट धर्महीन नहीं होते किन्तु देशदेशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं!!! यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो क्या है ? हाँ, इतना कारण तो है कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं उन के शरीर और वीर्य्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं इसलिये उनके सङ्ग करने से आर्य्यों को भी ये कुलक्षण न लग जायें यह तो ठीक है। परन्तु जब इन से व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष वा पाप नहीं है किन्तु इन के मद्यपानादि दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करें तो कुछ भी हानि नहीं। जब इन के स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं इसी से उन से युद्ध कभी नहीं कर सकते क्योंकि युद्ध में उन को देखना और स्पर्श होना अवश्य है।

सज्जन लोगों को राग, द्वेष अन्याय मिथ्याभाषणादि दोषों को छोड़ निर्वैर प्रीति परोपकार सज्जनतादि का धारण करना उत्तम आचार है। और यह भी समझ लें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हम को देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं।

हां, इतना अवश्य चाहिये कि वेदोक्त धर्म का निश्चय और पाखण्डमत का खण्डन करना अवश्य सीख लें। जिस से कोई हम को झूठा निश्चय न करा सके। क्या विना देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और **परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें तो विना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।**

पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इन को विद्या पढ़ावेंगे और देशदेशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में न फंसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी। इसीलिये भोजन छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें।

हां, इतना अवश्य चाहिये कि मद्य, मांस का ग्रहण कदापि भूल कर भी न करें। क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों में युद्ध-समय में भी चौका लगा कर रसोई बना के खाना अवश्य पराजय का हेतु है ? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है। इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते विरोध करते कराते, सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगा कर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पका कर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त्त देश भर में चौका लगा के सर्वथा नष्ट कर दिया है।

हां! जहां भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूड़ा

कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिये न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करना।

(प्रश्न) सखरी निखरी क्या है?

(उत्तर) सखरी जो जल आदि में अन्न पकाये जाते और जो घी दूध में पकाते हैं वह निखरी अर्थात् चोखी। यह भी इन धूर्तों का चलाया हुआ पाखण्ड है क्योंकि जिस में घी दूध अधिक लगे उस को खाने में स्वाद और उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे इसलिये यह प्रपञ्च रचा है। नहीं तो जो अग्नि वा काल से पका हुआ पदार्थ पक्का और न पका हुआ कच्चा है। जो पक्का खाना और कच्चा न खाना है यह भी सर्वत्र ठीक नहीं। क्योंकि चणे आदि कच्चे भी खाये जाते हैं।

(प्रश्न) द्विज अपने हाथ से रसोई बना के खावें वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें?

(उत्तर) शूद्र के हाथ की बनाई खावें क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्यपालने और पशुपालन खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहैं और शूद्र के पात्र में तथा उस के घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के विना न खावें। सुनो प्रमाण—

आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः। —यह आपस्तम्ब का सूत्र है।

आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि सेवा करें परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहैं। आर्यों के घर में जब रसोई बनावें तब मुख बांध के बनावें, क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्न में न पड़े। आठवें दिन क्षौर, नखच्छेदन करावें। स्नान करके पाक बनाया करें। आर्यों को खिला के आप खावें।

(प्रश्न) शूद्र के छुए हुए पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं तो उस के हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं?

(उत्तर) यह बात कपोलकल्पित झूठी है। क्योंकि जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत, दूध, पिशान, शाक, फल, मूल खाया उन्होंने जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। क्योंकि जब शूद्र, चमार, भङ्गी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते, छीलते, पीलकर रस निकालते हैं तब मलमूत्रोत्सर्ग करके उन्हीं विना धोये हाथों से छूते, उठाते, धरते आधा सांठा चूँस रस पीके आधा उसी में डाल देते और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं। जब चीनी बनाते हैं तब पुराने जूते कि जिस के तले में विष्ठा, मूत्र, गोबर, धूली लगी रहती है उन्हीं जूतों से उस को रगड़ते हैं। दूध में अपने घर के उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते उसी में घृतादि रखते और आटा पीसते समय भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते और पसीना भी आटे में टपकता जाता है इत्यादि और फल मूल कन्द में भी ऐसी ही लीला होती है। जब इन पदार्थों को खाया तो जानो सब के हाथ का खा लिया।

(प्रश्न) फल, मूल, कन्द और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं मानते?

(उत्तर) अच्छा तो भंगी वा मुसलमान अपने हाथों से दूसरे स्थान में बनाकर तुम को आके देवे तो खा लोगे वा नहीं? जो कहो कि नहीं तो अदृष्ट में भी दोष है।

हां! मुसलमान, ईसाई आदि मद्य मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों

को भी मद्य, मांसादि खाना पीना अपराध पीछे लग पड़ता है परन्तु **आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता। जब तक एक मत, एक हानि लाभ, एक सुख दुःख परस्पर न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है। परन्तु केवल खाना पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता** किन्तु जब तक बुरी बातें नहीं छोड़ते और अच्छी बातें नहीं करते तब तक बढ़ती के बदले हानि होती है।

विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना; विद्या न पढ़ना पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।

क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पांच सहस्र वर्ष के पहले हुई थीं उन को भी भूल गये ? देखो! महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते पीते थे, आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। **न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेशविनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं।** परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।

भक्ष्याभक्ष्य दो प्रकार का होता है। एक धर्मशास्त्रोक्त दूसरा वैद्यकशास्त्रोक्त। जैसे धर्मशास्त्र में—

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥ मनु०॥

द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को मलीन विष्ठा मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक फल मूलादि न खाना।

वर्जयेन्मधुमांसं च॥ मनु०॥

जैसे अनेक प्रकार के मद्य, गांजा, भांग, अफीम आदि—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते॥

जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं उन का सेवन कभी न करें और जितने अन्न सड़े, बिगड़े दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और मद्य, मांसाहारी म्लेच्छ कि जिन का शरीर मद्य, मांस के परमाणुओं ही से पूरित है उनके हाथ का न खावें।

जिस में उपकारक प्राणियों की हिंसा अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी, बैल, गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्यों को सुख पहुंचता है वैसे पशुओं को न मारें; न मारने दें। जैसे किसी गाय से बीस सेर और किसी से दो सेर दूध प्रतिदिन होवे उस का मध्यभाग ग्यारह सेर प्रत्येक गाय से दूध होता है। कोई गाय अठारह और कोई छः महीने दूध देती है, उस का भी मध्य भाग बारह महीने हुए। अब प्रत्येक गाय के जन्म भर के दूध से २४९६० (चौबीस सहस्र नौ सौ साठ) मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं। उसके छः बछियां छः बछड़े होते हैं उन में से दो मर जायें तो भी दश रहे।

उनमें से पांच बछड़ियों के जन्म भर के दूध को मिला कर १२४८०० (एक लाख चौबीस सहस्र आठ सौ) मनुष्य तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पांच बैल, वे जन्म भर में ५००० (पांच सहस्र) मन अन्न न्यून से न्यून उत्पन्न कर सकते हैं। उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य तीन पाव खावे तो अढ़ाई लाख मनुष्यों की तृप्ति होती है। दूध और अन्न मिला कर ३७४८०० (तीन लाख चौहत्तर हजार आठ सौ) मनुष्य तृप्त होते हैं। दोनों संख्या मिला के एक गाय की एक पीढ़ी में ४७५६०० (चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ) मनुष्य एक वार पालित होते हैं और पीढ़ी परपीढ़ी बढ़ा कर लेखा करें तो असंख्यात मनुष्यों का पालन होता है। इस से भिन्न बैलगाड़ी सवारी भार उठाने आदि कर्मों से मनुष्यों के बड़े उपकारक होते हैं तथा गाय दूध में अधिक उपकारक होती है परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे भैंसे भी हैं। परन्तु गाय के दूध घी से जितने बुद्धिवृद्धि से लाभ होते हैं उतने भैंस के दूध से नहीं। इससे मुख्योपकारक आर्यों ने गाय को गिना है। और जो कोई अन्य विद्वान् होगा वह भी इसी प्रकार समझेगा।

बकरी के दूध से २५९२० (पच्चीस सहस्र नौ सौ बीस) आदमियों का पालन होता है वैसे हाथी, घोड़े, ऊंट, भेड़, गदहे आदि से भी बड़े उपकार होते हैं। इन पशुओं को मारने वालों को सब मनुष्यों की हत्या करने वाले जानियेगा।

देखो! जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे । तभी आर्य्यावर्त्त वा अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्त्तते थे। क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। **जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गो आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है।** क्योंकि–

नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्।

जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय तो फल फूल कहां से हों?

(प्रश्न) जो सभी अहिंसक हो जायें तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जायें कि सब गाय आदि पशुओं को मार खायें तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ जाय?

(उत्तर) यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उन्हें दण्ड देवें और प्राण भी वियुक्त कर दें।

(प्रश्न) फिर क्या उन का मांस फेंक दें?

(उत्तर) चाहें फेंक दें, चाहें कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है।

जितना हिंसा और चोरी विश्वासघात, छल, कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है वह अभक्ष्य और अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है। जिन पदार्थों से स्वास्थ्य रोगनाश बुद्धिबलपराक्रमवृद्धि और आयुवृद्धि होवे उन तण्डुलादि, गोधूम, फल, मूल, कन्द, दूध, घी, मिष्टादि पदार्थों का सेवन यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब भक्ष्य कहाता है। जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध विकार करने वाले हैं **जिस-जिस के लिये जो-जो पदार्थ वैद्यकशास्त्र में वर्जित किये हैं,** उन-उन का सर्वथा

त्याग करना और जो-जो जिस के लिये विहित हैं उन-उन पदार्थों का ग्रहण करना यह भी भक्ष्य है।

(प्रश्न) एक साथ खाने में कुछ दोष है वा नहीं?

(उत्तर) दोष है। क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है; सुधार नहीं। इसीलिये—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥ मनु॰॥

न किसी को अपना झूँठा पदार्थ दे और न किसी के भोजन के बीच आप खावे। न अधिक भोजन करे और न भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये विना कहीं इधर-उधर जाय।

(प्रश्न) **'गुरोरुच्छिष्टभोजनम्'** इस वाक्य का क्या अर्थ होगा?

(उत्तर) इस का यह अर्थ है कि गुरु के भोजन किये पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है उस का भोजन करना अर्थात् गुरु को प्रथम भोजन कराके पश्चात् शिष्य को भोजन करना चाहिये।

(प्रश्न) जो उच्छिष्टमात्र का निषेध है तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है; पुनः उन को भी न खाना चाहिये।

(उत्तर) सहत कथनमात्र ही उच्छिष्ट होता है परन्तु वह बहुत सी औषधियों का सार ग्राह्य; बछड़ा अपनी मां के बाहिर का दूध पीता है भीतर के दूध को नहीं पी सकता, इसलिये उच्छिष्ट नहीं परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उस की मां का स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिये। और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता। देखो! स्वभाव से यह बात सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे। जैसे अपने मुख, नाक, कान, आंख, उपस्थ और गुह्येन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती वैसे किसी दूसरे के मल मूत्र के स्पर्श में होती है। इस से यह सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत नहीं है। इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् जूँठा न खायें।

(प्रश्न) भला स्त्री पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें?

(उत्तर) नहीं। क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

(प्रश्न) कहो जी! मनुष्यमात्र के हाथ की की हुई रसोई उस अन्न के खाने में क्या दोष है? क्योंकि ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्यन्त के शरीर हाड़, मांस, चमड़े के हैं और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में वैसा ही चाण्डाल आदि के; पुनः मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है?

(उत्तर) दोष है। क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि दोष रहित रज वीर्य उत्पन्न होता है वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नहीं।

क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है वैसा

ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं। इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डालादि नीच भंगी चमार आदि का न खाना। भला जब कोई तुम से पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधू का है वैसा ही अपनी स्त्री का भी है तो क्या माता आदि स्त्रियों के साथ स्वस्त्री के समान वर्तोगे? तब तुम को संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा। जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है वैसे दुर्गन्ध भी खाया जा सकता है तो क्या मलादि भी खाओगे? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है?

(प्रश्न) जो गाय के गोबर से चौका लगाते हो तो अपने गोबर से क्यों नहीं लगाते ? और गोबर के चौके में जाने से चौका अशुद्ध क्यों नहीं होता?

(उत्तर) गाय के गोबर से वैसा दुर्गन्ध नहीं होता जैसा कि मनुष्य के मल से। यह चिकना होने से शीघ्र नहीं उखड़ता न कपड़ा बिगड़ता न मलीन होता है। जैसा मिट्टी से मैल चढ़ता है वैसा सूखे गोबर से नहीं होता। मट्टी और गोबर से जिस स्थान का लेपन करते हैं वह देखने में अतिसुन्दर होता है। और जहां रसोई बनती है वहां भोजनादि करने से घी, मिष्ट और उच्छिष्ट भी गिरता है। उस से मक्खी, कीड़ी आदि बहुत से जीव मलिन स्थान के रहने से आते हैं। जो उस में झाड़ू लेपन से शुद्धि प्रतिदिन न की जावे तो जानो पाखाने के समान वह स्थान हो जाता है। इसलिये प्रतिदिन गोबर मिट्टी झाड़ू से सर्वथा शुद्ध रखना। और जो पक्का मकान हो तो जल से धोकर शुद्ध रखना चाहिये। इस से पूर्वोक्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। जैसे मियां जी के रसोई के स्थान में कहीं कोयला, कहीं राख, कहीं लकड़ी, कहीं फूटी हांडी, जूंठी रकेबी, कहीं हाड़ गोड़ पड़े रहते हैं और मक्खियों का तो क्या कहना! वह स्थान ऐसा बुरा लगता है कि जो कोई श्रेष्ठ मनुष्य जाकर बैठे तो उसे वान्त होने का भी सम्भव है और उस दुर्गन्ध स्थान के समान ही वह स्थान दीखता है। भला जो कोई इन से पूछे कि यदि गोबर से चौका लगने में तो तुम दोष गिनते हो परन्तु चूल्हे में कण्डे जलाने, उस की आग से तमाखू पीने, घर की भीति पर लेपन करने आदि से मियां जी का भी चौका भ्रष्ट हो जाता होगा इस में क्या सन्देह!

(प्रश्न) चौके में बैठ के भोजन करना अच्छा वा बाहर बैठ के?

(उत्तर) जहां पर अच्छा रमणीय सुन्दर स्थान दीखे वहां भोजन करना चाहिये। परन्तु आवश्यक युद्धादिकों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठ के वा खड़े-खड़े भी खाना पीना अत्यन्त उचित है।

(प्रश्न) क्या अपने ही हाथ का खाना और दूसरे के हाथ का नहीं?

(उत्तर) जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे तो बराबर सब आर्यों के हाथ का खाने में कुछ भी हानि नहीं। क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री पुरुष रसोई बनाने, चौका देने, वर्त्तन भांडे मांजने आदि बखेड़ों में पड़े रहैं तो विद्यादि शुभगुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके।

देखो! महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा, ऋषि, महर्षि आये थे। एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे। जब से ईसाई, मुसलमान आदि के मतमतान्तर चले; आपस में वैर विरोध हुआ; उन्होंने मद्यपान, गोमांसादि का खाना पीना स्वीकार किया उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया।

देखो! काबुल, कन्धार, ईरान, अमेरिका, यूरोप आदि देशों के राजाओं की

कन्या गान्धारी, माद्री, उलोपी आदि के साथ आर्य्यावर्त्तदेशीय राजा लोग विवाह आदि व्यवहार करते थे। शकुनि आदि, कौरव पाण्डवों के साथ खाते पीते थे; कुछ विरोध नहीं करते थे। क्योंकि उस समय सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था। उसी में सब की निष्ठा थी और एक दूसरे का सुख-दुःख हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे। तभी भूगोल में सुख था। अब तो बहुत से मत वाले होने से बहुत सा दुःख विरोध बढ़ गया है। इस का निवारण करना बुद्धिमानों का काम है।

परमात्मा सब के मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इस में सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव छोड़ के अविरुद्धमत के स्वीकार से सब जने मिल कर सब के आनन्द को बढ़ावें।

यह थोड़ा सा आचार अनाचार भक्ष्याभक्ष्य विषय में लिखा।

इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध इसी दशमे समुल्लास के साथ पूरा हो गया। इन समुल्लासों में विशेष खण्डन-मण्डन इसलिये नहीं लिखा कि जब तक मनुष्य सत्यासत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य न बढ़ाते तब तक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों के अभिप्राय को नहीं समझ सकते—इसलिये प्रथम सब को सत्य शिक्षा का उपदेश करके अब उत्तरार्द्ध अर्थात् जिसमें चार समुल्लास हैं उन में विशेष खण्डन-मण्डन लिखेंगे। इन चारों में से प्रथम समुल्लास में आर्य्यावर्त्तीय मतमतान्तर, दूसरे में जैनियों के तीसरे में ईसाइयों और चौथे में मुसलमानों के मतमतान्तरों के खण्डन मण्डन के विषय में लिखेंगे। और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखलाया जायगा। जो कोई विशेष खण्डन मण्डन देखना चाहें वे इन चारों समुल्लासों में देखें। परन्तु सामान्य करके कहीं-कहीं दश समुल्लासों में भी कुछ थोड़ा सा खण्डन-मण्डन किया है।

इन चौदह समुल्लासों को पक्षपात छोड़ न्यायदृष्टि से जो देखेगा उस के आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा। और जो हठ दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे सुनेगा उस को इस ग्रन्थ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है। इसलिये जो कोई इस को यथावत् न विचारेगा वह इस का अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा। और विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त हो कर प्रसन्न रहते हैं॥ १०॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित आचारानाचारभक्ष्याभक्ष्यविषये
दशमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ १०॥
समाप्तोऽयं पूर्वार्द्धः॥

अनुभूमिका (१)

यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं। वेदों की अप्रवृत्ति होने का कारण महाभारत युद्ध हुआ । इन की अप्रवृत्ति से अविद्याऽन्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिस के मन में जैसा आया वैसा मत चलाया । उन सब मतों में ४ चार मत अर्थात् जो वेद-विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सब मतों के मूल हैं वे क्रम से एक के पीछे दूसरा तीसरा चौथा चला है । अब इन चारों की शाखा एक सहस्र से कम नहीं हैं । इन सब मतवादियों, इन के चेलों और अन्य सब को परस्पर सत्याऽसत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है ।

जो-जो इस में सत्य मत का मण्डन और असत्य मत का खण्डन लिखा है वह सब को जनाना ही प्रयोजन समझा गया है । इस में जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या और जितना इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से बोध हुआ है उस को सब के आगे निवेदित कर देना मैंने उत्तम समझा है क्योंकि विज्ञान गुप्त हुए का पुनर्मिलना सहज नहीं है । पक्षपात छोड़कर इस को देखने से सत्याऽसत्य मत सब को विदित हो जायेगा । पश्चात् सब को अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्यमत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा । इन में से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा शाखान्तर रूप मत आर्य्यावर्त्त देश में चले हैं उन का संक्षेप से गुण दोष इस ११वें समुल्लास में दिखलाया जाता है ।

इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें । क्योंकि मेरा तात्पर्य्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्याऽसत्य का निर्णय करने कराने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना अति उचित है । मनुष्यजन्म का होना सत्याऽसत्य का निर्णय करने कराने के लिये है; न कि वादविवाद विरोध करने कराने के लिये। इसी मतामतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और आगे होंगे उन को पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं।

जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड़ सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना कराना चाहैं तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है।

यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सब को विरोध-जाल में फंसा रखा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंस कर सब के प्रयोजन को सिद्ध करना चाहैं तो अभी ऐक्यमत हो जायें । इस के होने की युक्ति इस की पूर्ति में लिखेंगे । सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे।

अलमतिविस्तरेण विपश्चिद्वरशिरोमणिषु ।